RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16, अंक-4, सितम्बर अक्टूबर नवम्बर 2023

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम् ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16 अंक - 4 सितम्बर-अक्टूबर-नवम्बर-2023

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा और उद्योगों का परिशीलन

रितु सारस्वत
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान-परंपरा में शिक्षा का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक बोध तक सीमित नहीं था, अपितु जीवनोपयोगी कौशल, नैतिकता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का समन्वित विकास था। वैदिक आर्यों के अर्थ-तंत्र का प्रमुख आधार यद्यपि कृषि एवं पशुपालन रहा, तथापि मानव जीवन की बहुविध आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप विविध व्यवसायों और उद्योगों का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ। इस प्रकार वैदिक समाज में शिक्षा और उद्योग परस्पर पूरक रूप में विकसित होते दिखाई देते हैं।

वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि उस काल में वस्त्र-निर्माण, बुनकरी, सिलाई, धातुकर्म, काष्ठ-कला, औषधि-विज्ञान तथा अन्य अनेक शिल्पों का पर्याप्त विकास हो चुका था। इन शिल्पों से संबद्ध व्यक्तियों को आगे चलकर कर्मार, तक्षक, वैद्य आदि संज्ञाएँ प्राप्त हुईं। तथापि प्रारम्भिक वैदिक युग में वर्णों का कोई कठोर या जन्माधारित सीमांकन नहीं मिलता। एक ही परिवार के सदस्य विभिन्न व्यवसायों में संलग्न पाए जाते थे, जो उस काल की सामाजिक लचीलापन और कर्मप्रधान व्यवस्था को दर्शाता है।

ऋग्वैदिक सूक्तों में वर्णित उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि शिक्षा और व्यवसाय वंशानुगत बंधनों से मुक्त थे। एक ऋषि का यह कथन कि वह स्वयं स्तुतिकर्ता है, पिता वैद्य हैं तथा माता गृहकार्य में संलग्न हैं—यह दर्शाता है कि एक ही परिवार में बौद्धिक, चिकित्सकीय और श्रमप्रधान कार्य समान सम्मान के साथ स्वीकार्य थे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वैदिक शिक्षा बहुआयामी थी, जो विभिन्न प्रकार की क्षमताओं और रुचियों के विकास को प्रोत्साहित करती थी।

इसी संदर्भ में यह विचार भी अभिव्यक्त हुआ है कि मनुष्यों की बुद्धि और क्षमता-भेद के कारण विभिन्न लोग विभिन्न व्यवसायों का चयन करते हैं—कोई बढ़ई लकड़ी गढ़ने में रुचि रखता है, कोई वैद्य रोग-निवारण में और कोई ब्राह्मण यज्ञ-कर्म में। यह विभाजन सामाजिक असमानता का नहीं, बल्कि कार्य-विशेषज्ञता का सूचक था। अत: यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में शिक्षा व्यावहारिक, नैतिक और कौशल-आधारित थी तथा उद्योगों का विकास उसी शिक्षा-पद्धति की स्वाभाविक परिणति था। आगे चलकर इन्हीं उद्योगों और व्यवसायों के आधार पर विभिन्न जातियों और सामाजिक वर्गों का निर्माण हुआ, किंतु उनके मूल में कर्म, योग्यता और शिक्षा की प्रधानता निहित थी।

धातु-उद्योग :

वैदिक साहित्य में पृथ्वी को 'वसुमती' तथा 'रत्नगर्भा' कहा गया है, जिसका आशय यह है कि उसके विशाल गर्भ में विविध प्रकार की धातुएँ और खनिज रूपी गुप्त संपदाएँ निहित हैं। यह धारणा इस तथ्य को उद्घाटित करती है कि वैदिक आर्य भूगर्भीय संसाधनों के महत्व से भली-भाँति परिचित थे। यशस्काम

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

आर्यों की प्राचीन विज्ञान-परंपरा में 'अर्थवेद' के अंतर्गत आदिम प्रौद्योगिकी, धातु-विज्ञान तथा भूगर्भ-ज्ञान के तत्त्वों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट होता है कि धातुएँ और खनिज तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था के प्रमुख आधार माने जाते थे।

ऋग्वैदिक काल में धातु-शिल्प का उद्योग पर्याप्त रूप से विकसित दिखाई देता है। इसकी उत्पत्ति का मुख्य कारण सुरक्षा, आखेट तथा कृषि-आवश्यकताएँ थीं। धातुओं का प्रयोग कृषि-उपकरणों, युद्धास्त्रों तथा गृह्य-उपयोग की विविध वस्तुओं के निर्माण में किया जाता था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि धातु-कला केवल सीमित प्रयोजन तक ही सीमित न रहकर दैनिक जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी थी।

वेदों में अनेक स्थलों पर 'अयस्' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसे अधिकांश विद्वान् लौह (लोहा) के अर्थ में ग्रहण करते हैं। यह तथ्य वैदिक समाज में लौह-ज्ञान की उपस्थिति की ओर संकेत करता है। साथ ही, असुरों के तीन नगरों का उल्लेख—जो अयस्, रजत (चाँदी) और स्वर्ण से निर्मित बताए गए हैं—धातुओं के प्रतीकात्मक एवं वास्तविक महत्व दोनों को प्रकट करता है।

लोहकार (लोहार) एवं धातु-कला :

संहिता-काल में जिन प्रमुख व्यावसायिक जातियों का उदय हुआ, उनमें लोहकार अथवा लोहार का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। वैदिक साहित्य में लौहार के लिए 'कर्मार' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो धातु-कला में निपुण शिल्पी का द्योतक है। इसके अतिरिक्त 'अयस्ताप'—अर्थात् अयस् (लोहा) को तपाने अथवा गरम करने वाला—शब्द भी उपलब्ध होता है, जो तत्कालीन धातु-प्रौद्योगिकी के तकनीकी स्तर को इंगित करता है।

लोहार कृषि-प्रधान समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु दात्र (हँसिया), फाल (हल का अग्रभाग), पात्र तथा अन्य उपयोगी उपकरणों का निर्माण करता था। अयस् (लोहा) के साथ-साथ त्रपु (टिन) एवं सीसा जैसी धातुओं का प्रयोग भी विविध प्रकार के पात्रों और उपकरणों के निर्माण में किया जाता था। यजुर्वेद में कुल्हाड़ी का उल्लेख प्राप्त होता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि काष्ठ-कर्म तथा निर्माण-कला में धातु-उपकरणों का व्यापक प्रयोग प्रचलित था।

वैदिक देवताओं के स्वरूप-वर्णन में विद्वानों द्वारा जिन कृषि-उपकरणों और युद्धास्त्रों की पहचान की गई है, वे इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि उस काल में हल, असि (तलवार) तथा परशु (कुल्हाड़ी) जैसे शस्त्रों का निर्माण प्रचलित था। ऋग्वेद में अयस् द्वारा निर्मित नगर, कवच तथा वज्र का उल्लेख मिलता है, जो धातु-कला के उच्च स्तर की ओर संकेत करता है। साथ ही रथ-सदृश वाहनों के निर्माण में भी धातु-प्रयोग की संभावनाएँ दिखाई देती हैं।

ऋग्वेद में छिद्र करने वाली सूई से वस्त्र सीने का उल्लेख प्राप्त होता है, जो सूक्ष्म धातु-कला के विकास को दर्शाता है। अथर्ववेद में लोहे से निर्मित वस्तुओं का वर्णन और भी स्पष्ट रूप में उपलब्ध होता है। इस संदर्भ में असुरों को लोहे एवं अन्य धातुओं का निपुण शिल्पी माना गया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि धातु-कला को सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्व प्राप्त था।

लोहार द्वारा निर्मित उपकरणों का यथेष्ठ मूल्य प्राप्त होना इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि धातु-उद्योग न केवल प्राचीनतम उद्योगों में से एक था, बल्कि वह तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था का भी एक सुदृढ़ आधार था। इस प्रकार लोहकार एवं धातु-कला भारतीय ज्ञान-परंपरा में तकनीकी दक्षता, आर्थिक संरचना

और सामाजिक विकास के महत्वपूर्ण प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं।

यन्त्र-निर्माण :

संहिता-काल में केवल कृषि और धातु-कला का ही नहीं, अपितु यन्त्र-निर्माण का भी उल्लेखनीय विकास दृष्टिगोचर होता है। वैदिक संहिताओं में ऐसे संकेत उपलब्ध हैं, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस युग में कुछ ऐसे यान भी प्रचलित थे, जो यन्त्रों द्वारा संचालित होते थे और जिनके संचालन के लिए बैल अथवा अश्व की अनिवार्यता नहीं थी। यह तथ्य तत्कालीन तकनीकी चेतना और यान्त्रिक कल्पना का द्योतक है।

ऋग्वेद की एक ऋचा में 'पक्षी' विशेषण से युक्त नौका का वर्णन प्राप्त होता है। विद्वानों के अनुसार यहाँ 'पक्षी' का तात्पर्य पाल से युक्त नाव से है, जो वायु-शक्ति के माध्यम से संचालित होती थी। यह समुद्री अथवा नदीय यातायात में यान्त्रिक सिद्धान्तों के प्रयोग का संकेत प्रदान करता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में तीन चक्रों वाले एक ऐसे रथ का उल्लेख मिलता है, जो अश्व-रहित था तथा जिसके गतिमान होने पर धूल उड़ती थी। यह वर्णन किसी यन्त्रचालित वाहन की संभावना की ओर संकेत करता है।

इन सभी यान्त्रिक रचनाओं का श्रेय कर्मार अर्थात् धातु-कला एवं यन्त्र-निर्माण में निपुण शिल्पकार को दिया जाता है। कर्मार केवल कृषि-उपकरणों और गृह्य-वस्तुओं तक ही सीमित नहीं था, अपितु वह अस्त्र-शस्त्र निर्माण में भी दक्ष था। वैदिक साहित्य में ऋष्टि, बाण, तूणीर, अंकुश, परशु, कृपाण, वज्र, विषाक्त बाण, आग्नेशास्त्र, सीसे से निर्मित अस्त्र तथा शतघनी (तोप सदृश आयुध) का उल्लेख मिलता है। ये सभी अस्त्र-शस्त्र उन्नत धातु-ज्ञान और यान्त्रिक कौशल के प्रमाण हैं।

अत: कर्मार के इस बहुविध कर्तृत्व—धातु-कला, यन्त्र-निर्माण और अस्त्र-शस्त्र निर्माण के कारण वैदिक समाज में उसकी 'मनीषी-शिल्पकार' के रूप में प्रशंसा की गई है। इस प्रकार यन्त्र-निर्माण भारतीय ज्ञान-परंपरा में विज्ञान, तकनीक और सृजनशीलता के प्रारम्भिक एवं सशक्त स्वरूप को प्रतिपादित करता है।

सुवर्णकार :

मानव स्वभावत: सौन्दर्य-प्रिय प्राणी है। उसकी पाँच ज्ञानेन्द्रियों में चक्षु-इन्द्रिय एवं स्पर्श-इन्द्रिय विशेष रूप से सौन्दर्य-बोध से संबद्ध हैं, जिनके विषय रूप, रंग तथा कोमल स्पर्श आदि हैं। इन इन्द्रियों की तुष्टि हेतु मानव ने प्राचीन काल से ही विविध प्रकार के सौन्दर्य-प्रसाधनों का विकास किया, जिनमें वस्त्र और आभूषण का स्थान प्रमुख रहा। भारतीय ज्ञान-परंपरा में आभूषणों का निर्माण मुख्यत: सुवर्ण तथा अन्य बहुमूल्य धातुओं से किया जाता था।

वैदिक साहित्य में 'हिरण्य' (स्वर्ण) का अनेक स्थलों पर उल्लेख प्राप्त होता है। विद्वानों के अनुसार स्वर्ण की सर्वप्रथम खोज आर्यों द्वारा ही की गई थी और यही स्वर्ण विदेशों तक निर्यात किया जाता था। इसी कारण आर्यावर्त को 'स्वर्ण-भूमि' कहा गया है। यह तथ्य तत्कालीन समाज की आर्थिक समृद्धि और धातु-ज्ञान की उन्नति को प्रकट करता है।

स्वर्णाभूषणों का निर्माण करने वाला सुवर्णकार प्राचीनतम शिल्पियों में से एक था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में उपलब्ध है। उसे 'हेमकार' भी कहा गया है। सुवर्ण का प्रयोग विविध प्रकार के आभूषणों—जैसे हार, मांगटीका, कर्णशोभन आदि—के निर्माण में किया जाता था। ये आभूषण विशेषत: विवाह एवं अन्य मांगलिक अवसरों पर धारण किए जाते थे अथवा पिता द्वारा अपनी कन्याओं को उपहारस्वरूप प्रदान किए

जाते थे। इसके अतिरिक्त साज-सज्जा और सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक रूप में भी स्वर्णालंकारों का प्रयोग प्रचलित था।

वैदिक दृष्टि में शरीर पर स्वर्ण धारण करना गौरव और समृद्धि का प्रतीक माना गया है, जिसे सुशासन तथा राजा की सुनीतियों का फल समझा जाता था। अथर्ववेद में विविध प्रकार के आभूषणों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इसके साथ ही 'निष्क' नामक अलंकार अथवा स्वर्ण-मुद्रा का उल्लेख भी मिलता है, जो आर्थिक लेन-देन और आभूषण—दोनों प्रयोजनों में प्रयुक्त होता था।

वासोवाय (वस्त्र-निर्माता) एवं वस्त्र-उद्योग :

वैदिक संहिताओं में वस्त्र-निर्माण, कढ़ाई-बुनाई तथा परिधान-प्रयोग के उल्लेख आलंकारिक एवं प्रतीकात्मक रूप में प्राप्त होते हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि संहिता-काल में वस्त्र-उद्योग एक विकसित अवस्था में था। ऋग्वेद में ताने और बाने के लिए 'तन्तु' तथा 'ओतु' शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो उस काल की उन्नत बुनाई-प्रणाली का संकेतक है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि संहिता-काल में सुंदर, सुसंस्कृत एवं कलात्मक वस्त्रों का निर्माण किया जाता था।

ऋग्वेद में पूषन् देवता को ऊनी वस्त्र धारण किए हुए वर्णित किया गया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन आर्य ऊन का व्यापक रूप से प्रयोग करते थे। ऊन-प्रदाता भेड़ के लिए 'ऊर्णावती' विशेषण का प्रयोग मिलता है। वेदों में खड्डी की खूंटी, करघे, ताना-बाना तथा बुनने वाली करघी का उल्लेख भी उपलब्ध है। बुनकर के लिए 'वाय' अथवा 'तन्तुवाय' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका उल्लेख महाभाष्य में भी मिलता है।

विद्वानों का मत है कि वस्त्र-बुनाई का प्रारम्भ सर्वप्रथम नारियों द्वारा किया गया। अत: वैदिक समाज में नारियाँ बुनाई-कला में दक्ष थीं। सम्भवत: इसी कारण उन्हें 'सिरी' अर्थात् बुनकर का विशेषण प्राप्त हुआ। माताएँ अपनी संतानों के लिए वस्त्र स्वयं बुनती थीं। उस युग में ऊनी वस्त्रों का विशेष प्रचलन था। ऊन से बनी जालियाँ छानने जैसे घरेलू कार्यों में प्रयुक्त होती थीं। साथ ही वैदिक साहित्य में रेशमी वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है, जो वस्त्र-उद्योग की विविधता को दर्शाता है।

संहिताओं में विभिन्न परिधानों के नाम भी उल्लिखित हैं। अधोवस्त्र को 'वासकी' कहा गया है। ऋग्वेद में 'अधिवास' शब्द मिलता है, जो सम्भवत: चादर अथवा बाह्य आवरण का द्योतक है। अथर्ववेद में बाह्य वस्त्र के लिए 'वास:' तथा भीतरी वस्त्र के लिए 'नीवी' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह परिधान-व्यवस्था उस काल की सामाजिक मर्यादा और सांस्कृतिक चेतना को प्रतिबिंबित करती है।

परुष्णी (रावी) नदी-प्रदेश की ऊन के लिए 'शुन्ध्यव' विशेषण प्रयुक्त हुआ है, जिससे उसकी उत्कृष्ट गुणवत्ता का बोध होता है। इसी प्रकार गान्धार प्रदेश की भेड़ों की ऊन का भी उल्लेख मिलता है। परुष्णी एवं गान्धार के ऊनी वस्त्र अपनी श्रेष्ठता के कारण सम्भवत: सिन्धु नदी के मार्ग से दूरस्थ देशों में निर्यात किए जाते थे। ऋग्वेद में सिन्धु-देशीय ऊनी वस्त्रों की प्रशंसा इस व्यापारिक समृद्धि की पुष्टि करती है।

वैदिक काल में बुनाई की पाठशालाओं के अस्तित्व के भी संकेत मिलते हैं, जहाँ वस्त्र-निर्माण की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्र-उद्योग केवल घरेलू कला न होकर एक संगठित एवं शिक्षण-आधारित उद्योग था। इसका समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा और कालान्तर में इससे सम्बद्ध बुनकर, सूची (दर्जी), रंगरेज तथा धोबी आदि सहायक व्यवसायों का उदय हुआ।

तक्षा (बढ़ई) एवं काष्ठ-कला :

काष्ठ मानव का धातुओं से भी पूर्व का सहयोगी प्रतीत होता है। आदिम काल में लकुटी, ईंधन तथा आश्रय-निर्माण के रूप में लकड़ी का उपयोग किया जाता था, किंतु कालान्तर में यह उपयोग मात्र व्यवहारिक न रहकर कलात्मक स्वरूप भी ग्रहण कर गया। भारतीय ज्ञान-परंपरा में काष्ठ-कला का मानव समाज से अत्यन्त प्राचीन एवं चिरस्थायी संबंध दिखाई देता है। संहिता-काल में बढ़ई-व्यवसाय का विधिवत् उदय हो चुका था।

वैदिक साहित्य में बढ़ई के लिए 'तक्षन्' तथा 'त्वष्टा' शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'तक्षन्' कुशल काष्ठ-शिल्पी का द्योतक है, जबकि 'त्वष्टा' को देवशिल्पी के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है। वैदिक ग्रन्थों में काष्ठ-कला से संबंधित अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं, जो इस शिल्प के व्यापक विकास को सूचित करते हैं। तक्षा जाति अनेक प्रकार के काष्ठ-उपकरणों और गृह्य उपयोग की वस्तुओं का निर्माण करती थी। अत: तत्कालीन समाज में बढ़ई एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिल्पकार के रूप में प्रतिष्ठित था।

बढ़ई द्वारा 'प्रोप्ल' नामक लकड़ी की चौकी, विभिन्न प्रकार के तल्प अथवा पलंग, पालकी तथा अनेक प्रकार की आसन्दियाँ (बैठकें) निर्मित की जाती थीं। इसके अतिरिक्त 'द्रोण' नामक काष्ठ-निर्मित पात्र का भी उल्लेख मिलता है, जिसमें सोमरस एकत्र किया जाता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुष्ठानों में भी काष्ठ-कला की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

तक्षा वस्तुओं के परिवहन हेतु गाड़ियों का निर्माण भी करता था। 'अनस्' नामक गाड़ी का प्रयोग खलिहानों से अन्न आदि को घर लाने के लिए किया जाता था। उस युग में नावों और पोतों का निर्माण भी प्रचलित था, जो काष्ठ-कला की तकनीकी उन्नति का प्रमाण है। जल-यान निर्माण निश्चय ही बढ़ई की उन्नत शिल्प-दक्षता का चमत्कार रहा होगा।

काष्ठ-शिल्पियों में सर्वाधिक उन्नत और कुशल बढ़ई को 'रथकार' कहा गया है, जो युद्ध और यातायात हेतु रथों का निर्माण करता था। रथ-निर्माण में उच्च तकनीकी ज्ञान, संतुलन-बोध और सौन्दर्य-दृष्टि की आवश्यकता होती थी, जिससे रथकार का स्थान काष्ठ-कला में सर्वोच्च माना गया।

रथकार एवं संचार-साधन :

ऋग्वेद में रथों का अत्यन्त मनोहर, आलंकारिक तथा गौरवपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक समाज में रथ केवल यातायात का साधन ही नहीं था, अपितु वह सामाजिक प्रतिष्ठा, सामरिक शक्ति तथा तकनीकी दक्षता का भी प्रतीक माना जाता था। रथकार का प्रमुख व्यवसाय सवारी तथा युद्धों के लिए रथों का निर्माण करना था। सुविधाजनक, तीव्र एवं सुरक्षित यात्रा के उद्देश्य से रथों का निर्माण किया जाता था, जिससे संचार-साधनों के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

'अनस्' नामक साधारण गाड़ी की तुलना में रथ निश्चय ही अधिक परिष्कृत और उन्नत वाहन रहा होगा। रथ-निर्माण के लिए उच्च कोटि की काष्ठ-कला, धातु-कर्म, संतुलन-बोध तथा सौन्दर्य-दृष्टि की आवश्यकता होती थी। इसी कारण तक्षाओं (बढ़इयों) का एक पृथक् और विशिष्ट वर्ग अस्तित्व में आया, जिसे 'रथकार' की संज्ञा दी गई। रथकार को काष्ठ-शिल्प का सर्वोच्च प्रतिनिधि माना जाता था। कामसूत्र में रथकार के लिए 'सौधन्वन' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो इस शिल्प की प्रतिष्ठा को और अधिक स्पष्ट करता है।

रथकार द्वारा निर्मित रथ न केवल तकनीकी दृष्टि से सुदृढ़ होते थे, बल्कि कलात्मक सौन्दर्य से भी युक्त होते थे। अलंकृत रथ, चमकदार धातु-अंग, सुगठित पहिए और संतुलित संरचना रथकार की कुशलता का परिचायक थे। युद्ध-क्षेत्र में रथ का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। बलशाली अश्वों द्वारा संचालित रथों पर आरूढ़ वीर रथी अपने शौर्य, पराक्रम और रण-कौशल का प्रदर्शन करते थे। वैदिक युद्ध-नीति में रथ सेना की गतिशील शक्ति का प्रमुख आधार था।

सूतः (रथ-सारथी):

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक समाज में रथ का स्थान युद्ध और शान्ति—दोनों परिस्थितियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। रथ की उपयोगिता केवल निर्माण तक सीमित न रहकर उसके कुशल संचालन तक विस्तृत थी। इसी आवश्यकता के परिणामस्वरूप कालान्तर में रथ-संचालन हेतु एक विशिष्ट वर्ग का विकास हुआ, जिसे 'सूतः' की संज्ञा दी गई। उत्तर-वैदिक साहित्य में सूत के कार्य और प्रतिष्ठा का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।

सूत का प्रमुख व्यवसाय रथ हांकना था। यह कार्य केवल शारीरिक बल पर आधारित न होकर एक उच्च कोटि की कला एवं तकनीकी दक्षता की मांग करता था। रथ-संचालन में अश्वों का नियंत्रण, गति-संतुलन, मार्ग-चयन तथा युद्धकालीन परिस्थितियों में त्वरित निर्णय लेने की क्षमता आवश्यक थी। विशेषतः युद्ध में रथ की दिशा, वेग और सुरक्षा पर ही योद्धा की विजय अथवा पराजय निर्भर करती थी। इस प्रकार सूत युद्ध-कला का एक अनिवार्य अंग था।

भारतीय इतिहास और महाकाव्य-परंपरा में सूत की भूमिका का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण महाभारत में मिलता है। अर्जुन की विजय का श्रेय केवल उनके शौर्य और अस्त्र-कौशल को ही नहीं, अपितु श्रीकृष्ण द्वारा किए गए उनके कुशल रथ-संचालन को भी दिया जाता है। श्रीकृष्ण ने सारथी के रूप में युद्ध-रणनीति, समयानुकूल दिशा-निर्देश और रथ-नियंत्रण द्वारा अर्जुन को विजय की ओर अग्रसर किया। यह उदाहरण सूत की सामरिक एवं रणनीतिक महत्ता को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है।

कुंभकार (कुलाल) एवं पात्र-रचना :

मृण्मय-पात्र, अश्मास्त्र तथा धातु-उपकरण मानव द्वारा निर्मित वे पदार्थ हैं, जिनकी आवश्यकता समाज को आदि काल से रही है। इन सभी में मृण्मय-पात्र सर्वाधिक प्राचीन माने जाते हैं। भारतीय ज्ञान-परंपरा में पात्र-निर्माण का यह प्रारम्भिक रूप वैदिक काल तक सुव्यवस्थित अवस्था में विकसित हो चुका था। वैदिक साहित्य में कुंभकार के लिए 'कुलाल' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो मिट्टी से कुम्भ, घट तथा अन्य विविध प्रकार के पात्रों एवं उपयोगी उपकरणों का निर्माण करता था। वस्तुतः मृण्मय-पात्रों की जड़ें भारत की मिट्टी और उसकी सांस्कृतिक परंपरा में गहराई से निहित हैं।

कुलाल द्वारा निर्मित मिट्टी के पात्र दैनिक जीवन के अनेक कार्यों—जैसे जल-संग्रह, अन्न-भंडारण, भोजन-पकाने तथा धार्मिक अनुष्ठानों—में प्रयुक्त होते थे। इस कारण कुंभकार वैदिक समाज में एक आवश्यक एवं प्रतिष्ठित शिल्पकार के रूप में स्थापित था। संहिता-काल में कुलाल द्वारा विभिन्न आकार, रूप और उपयोग के मृण्मय-पात्र बनाए जाने लगे थे, जो समाज की बहुविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

ग्रामीण अर्थ-तंत्र के विकास में नारी-वर्ग का योगदान भी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। समाज-शास्त्रियों का मत है कि जैसे प्रथम बुनकर नारियाँ थीं, उसी प्रकार प्रथम कुंभकार भी नारियाँ ही रही होंगी। प्रारम्भिक काल में मिट्टी के पात्रों और वस्त्रों के निर्माण पर नारी-वर्ग का एकाधिकार रहा होगा। इससे

यह स्पष्ट होता है कि शिल्प-विकास में स्त्रियों की भूमिका मौलिक और निर्णायक रही है।

प्राचीन काल में कुंभकार-व्यवसाय एक उन्नत अवस्था में था, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक ग्राम प्राय: आत्मनिर्भर दिखाई देता है। ग्रामीण समाज अपनी आवश्यकताओं के लिए बाह्य निर्भरता के बिना स्थानीय कुलाल द्वारा निर्मित मृण्मय-पात्रों का उपयोग करता था। इस प्रकार संहिता-काल में कुंभकार एवं पात्र-रचना भारतीय ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था, सांस्कृतिक निरन्तरता और शिल्प-परंपरा के सुदृढ़ आधार के रूप में विकसित हुई। अत: कुंभकार (कुलाल) एवं मृण्मय-पात्र-रचना भारतीय ज्ञान-परंपरा में न केवल प्राचीनतम उद्योगों में से एक है, अपितु यह आत्मनिर्भर ग्राम्य जीवन और सांस्कृतिक स्थायित्व का भी सशक्त प्रतीक है।

चर्मकार एवं चर्म-उद्योग :

संहिता-काल से ही भारतीय समाज में चर्म-उद्योग का सुव्यवस्थित अस्तित्व दिखाई देता है। चमड़े से विविध उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करने वाला शिल्पी 'चर्मकार' कहलाता था। चर्मकार का प्रमुख कार्य पादत्राण (पैरों की रक्षा हेतु जूते आदि) तथा अन्य दैनिक उपयोग की चर्म-वस्तुओं का निर्माण था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज में मानव की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु चर्म-उद्योग एक आवश्यक और संगठित शिल्प के रूप में विकसित हो चुका था।

चर्मकार द्वारा निर्मित प्रमुख वस्तुओं में प्रत्यंचा (धनुष की डोरी), चाबुक, रास (लगाम) आदि का उल्लेख मिलता है। ये वस्तुएँ कृषि, पशुपालन और युद्ध—तीनों क्षेत्रों में अत्यन्त उपयोगी थीं। इसके अतिरिक्त चमड़े से विभिन्न प्रकार के वाद्य-यंत्रों का निर्माण भी किया जाता था, जिससे यह सिद्ध होता है कि चर्म-उद्योग का संबंध केवल उपयोगितावादी जीवन से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और कलात्मक गतिविधियों से भी था। दृति (मशक) का निर्माण भी चर्मकार द्वारा किया जाता था, जिसका प्रयोग जल अथवा अन्य द्रव पदार्थों के संग्रह हेतु होता था।

अथर्ववेद में हरिण के अजिन (चर्म) का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका उपयोग आश्रमवासी मुनि-जन करते थे। मृग-चर्म से निर्मित वस्त्रों का भी वर्णन मिलता है, जो तपस्वी जीवन की सादगी और प्रकृति-सान्निध्य का प्रतीक था। इससे स्पष्ट होता है कि चर्म का प्रयोग केवल साधारण जीवन तक सीमित न होकर धार्मिक और आध्यात्मिक परंपराओं में भी प्रचलित था।

इसी संदर्भ में अथर्ववेद में 'पत्संगिनी' का चित्रण भी मिलता है, जिससे किसी प्रकार के पादत्राण का अभिप्राय ध्वनित होता है। यह संकेत करता है कि वैदिक समाज में पैरों की सुरक्षा के लिए विशेष चर्म-निर्मित उपकरणों का प्रयोग प्रचलन में था।

विविध उद्योग :

वैदिक संहिताओं के सूक्ष्म परिशीलन से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में केवल प्रमुख उद्योग ही नहीं, अपितु अनेक सहायक एवं लघु उद्योगों का भी सुव्यवस्थित अस्तित्व था। इन विविध उद्योगों में रस्सी-उद्योग का स्थान विशेष रूप से महत्वपूर्ण था। ऋग्वेद में रस्सी के माध्यम से कुएँ से जल निकालने का वर्णन प्राप्त होता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि रस्सी-निर्माण तकनीक और उसका व्यावहारिक उपयोग उस काल में भली-भाँति विकसित हो चुका था।

संहिताओं में 'शण' (पटसन) का भी उल्लेख मिलता है, जो इस तथ्य का प्रमाण है कि उससे आच्छादन, बोरे तथा अन्य घरेलू उपयोग की वस्तुएँ निर्मित की जाती थीं। यह उद्योग कृषि एवं भंडारण

व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से संबद्ध था। इसके अतिरिक्त नड और घास से चटाइयाँ, आसन तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ बनाने का व्यवसाय भी प्रचलित था, जिसे प्राय: नारियाँ संपादित करती थीं। इससे यह ज्ञात होता है कि लघु उद्योगों का विकास घरेलू स्तर पर व्यापक रूप से हुआ था।

समाज-शास्त्रियों के अनुसार वैदिक काल में नारियाँ प्रथम कृषक, प्रथम बुनकर और प्रथम कुंभकार के रूप में भी सक्रिय रहीं। कताई, बुनाई, रस्सी-निर्माण तथा चटाई-निर्माण जैसे कार्यों में नारियों की भागीदारी तत्कालीन अर्थ-तंत्र का एक उज्ज्वल एवं सुदृढ़ पक्ष प्रस्तुत करती है। यह सहभागिता न केवल पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी, बल्कि ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने में भी सहायक थी।

विविध उद्योग :

वैदिक संहिताओं के सूक्ष्म परिशीलन से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में केवल प्रमुख उद्योग ही नहीं, अपितु अनेक सहायक एवं लघु उद्योगों का भी सुव्यवस्थित अस्तित्व था। इन विविध उद्योगों में रस्सी-उद्योग का स्थान विशेष रूप से महत्वपूर्ण था। ऋग्वेद में रस्सी के माध्यम से कुएँ से जल निकालने का वर्णन प्राप्त होता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि रस्सी-निर्माण तकनीक और उसका व्यावहारिक उपयोग उस काल में भली-भाँति विकसित हो चुका था।

संहिताओं में 'शण' (पटसन) का भी उल्लेख मिलता है, जो इस तथ्य का प्रमाण है कि उससे आच्छादन, बोरे तथा अन्य घरेलू उपयोग की वस्तुएँ निर्मित की जाती थीं। यह उद्योग कृषि एवं भंडारण

व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से संबद्ध था। इसके अतिरिक्त नड और घास से चटाइयाँ, आसन तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ बनाने का व्यवसाय भी प्रचलित था, जिसे प्राय: नारियाँ संपादित करती थीं। इससे यह ज्ञात होता है कि लघु उद्योगों का विकास घरेलू स्तर पर व्यापक रूप से हुआ था।

समाज-शास्त्रियों के अनुसार वैदिक काल में नारियाँ प्रथम कृषक, प्रथम बुनकर और प्रथम कुंभकार के रूप में भी सक्रिय रहीं। कताई, बुनाई, रस्सी-निर्माण तथा चटाई-निर्माण जैसे कार्यों में नारियों की भागीदारी तत्कालीन अर्थ-तंत्र का एक उज्ज्वल एवं सुदृढ़ पक्ष प्रस्तुत करती है। यह सहभागिता न केवल पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी, बल्कि ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाने में भी सहायक थी।

निष्कर्षत: इस समग्र परिशीलन से स्पष्ट होता है कि वैदिक एवं संहिता-कालीन भारतीय समाज में शिक्षा और उद्योग परस्पर पूरक एवं समन्वित रूप में विकसित थे। कृषि-आधारित अर्थ-तंत्र के साथ-साथ धातु-उद्योग, लोहकारी, सुवर्णकारी, वस्त्र-निर्माण, काष्ठ-कला, रथ-निर्माण, यन्त्र-निर्माण, कुंभकारी, चर्म-उद्योग तथा विविध लघु उद्योगों का सुव्यवस्थित विकास दिखाई देता है। इन उद्योगों में कर्म, कौशल और योग्यता का प्रधान महत्व था, न कि जन्म का। नारी-वर्ग की सक्रिय भागीदारी—कृषि, बुनाई, कुंभकारी एवं लघु उद्योगों में—वैदिक अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर और सुदृढ़ बनाती थी। इस प्रकार भारतीय ज्ञान-परंपरा में उद्योग केवल जीविका का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और तकनीकी प्रगति के आधार-स्तम्भ रहे हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य सहित), सम्पादक—पं. रामगोपाल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 2008*

2. यजुर्वेद संहिता (शुक्ल एवं कृष्ण), सायण भाष्य सहित, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2010
3. अथर्ववेद संहिता (सायण भाष्य सहित), सम्पादक—पं. हरिदत्त शर्मा, चौखम्बा ओरिएण्टल रिसर्च, वाराणसी, 2009
4. मैकडॉनेल, ए. ए., वैदिक मैथोडोलॉजी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963
5. कीथ, ए. बी., The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads, Harvard University Press, कैम्ब्रिज, 1925
6. ओल्डेनबर्ग, हरमन, Die Religion des Veda, Stuttgart, 1894
7. पाणिनि, अष्टाध्यायी (काशिका-वृत्ति सहित), सम्पा.—जयादित्य-वामन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965
8. पतंजलि, महाभाष्य, सम्पा.—एस. के. बेलवलकर, भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पुणे, 1962
9. वात्स्यायन, कामसूत्र (जयमंगला टीका सहित), चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 2004
10. कौटिल्य, अर्थशास्त्र (अनुवाद एवं टीका—आर. पी. कांगले), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1965
11. मैक्समूलर, एफ., Sacred Books of the East, Oxford University Press, ऑक्सफोर्ड, 1879
12. मजूमदार, आर. सी., The Vedic Age, Bharatiya Vidya Bhavan, मुंबई, 1951
13. शर्मा, रामशरण, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास (हिंदी), ओरिएण्ट लॉन्गमैन, दिल्ली, 1996
14. थापर, रोमिला, प्रारम्भिक भारत का इतिहास (हिंदी अनुवाद), पेंगुइन इंडिया, दिल्ली, 2002
15. दासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ, भारतीय दर्शन का इतिहास, खंड-1, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1951
16. भंडारकर, डी. आर., Some Aspects of Ancient Indian Culture, Asian Educational Services, नई दिल्ली, 1989
17. चटर्जी, सुनीतिकुमार, भारतीय संस्कृति (हिंदी अनुवाद), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1968
18. घोष, ए., The City in Early Historical India, Oxford University Press, दिल्ली, 1973
19. कोसांबी, डी. डी., An Introduction to the Study of Indian History, Popular Prakashan, मुंबई, 1956
20. शर्मा, आर. एस., Material Culture and Social Formations in Ancient India, Macmillan India, दिल्ली, 1983
21. मुखर्जी, डॉ. राधाकुमुद, वैदिक काल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
22. शर्मा, प्रो. दस्तावेजी, वैदिक वाङ्मय में पुरुषार्थ : अर्थ एक प्रधान तत्त्व, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2018
23. राय, डॉ. अरविंद कुमार, वैदिक काल या वैदिक युग, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 20232
24. भारतीय कृषि का विकास, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (CSTT), मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2021
25. डॉ. विजय, वैदिक काल में कृषि का विकास और महत्त्व, साहित्य सदन, जयपुर, 2019
26. शर्मा, दस्तावेजी, वैदिक वाङ्मय में पुरुषार्थ, चौखम्बा ओरिएण्टल रिसर्च, वाराणसी, 2018